



## आधुनिक भारत

पी. साईनाथ

03 अप्रैल, 2006

किसानों द्वारा आत्महत्याओं की संख्या इस हफ्ते 400 पार कर गई। सेन्सेक्स शेयर सूचकांक 11,000 पार कर गया। और लैक्मे फैशन सप्ताह (एल. एफ. डब्ल्यू.) में 500 पत्रकारों को मीडिया पास दिए गए। यह सभी बातें पहली बार हुई हैं। सब कुछ एक ही सप्ताह में हुआ। और इनमें से हर एक चीज़ एक अजीबोगरीब तरीके से दर्शाती है कि भारत का ब्रेव न्यू वर्ल्ड किस तरफ जा रहा है। भारी कटाव का यह एक जबरदस्त मापक है। उस खाई का जो एक तरफ तो है पाए हुआ और ज़्यादा पाए हुआ के बीच, और दूसरी तरफ खोए हुआ और हताश लोगों के बीच।

उपरोक्त तीन घटनाओं में से विदर्भ में आत्महत्याओं की संख्याओं का कई अखबारों और टेलीविज़न चैनलों में कोई ज़िक्र नहीं हुआ। इसके बावजूद कि ये पिछले साल के 2 जून से हो रही हैं। इसके बावजूद कि सबसे कम आँकड़े (सकाल अखबार) के अनुसार भी मृतकों की संख्या 372 से ऊपर है। (2000-01 से गिना जाए तब तो संख्या हजारों में पहुँच जाएगी।) हाँ, मीडिया में दुर्लभ अपवाद थे। पर वे बिल्कुल वही थे - दुर्लभ। यह बता पाना मुश्किल है कि जो लोग ज़मीनी तौर पर इस असाधारण मानवीय त्रासदी से लड़ रहे हैं, वे कैसा महसूस कर रहे हैं। खास तौर से यह देखते हुए कि वही राष्ट्रीय मीडिया जो अन्य मुद्दों पर प्रवचन करने से नहीं चूकता, इस मुद्दे पर खामोश है।

उन 13 दिनों के दौरान जब आत्महत्या सूचकांक 400 से ऊपर पहुँचा, 40 किसानों ने अपनी जान ली। विदर्भ जन आंदोलन समिति ने ध्यान दिलाया है कि आत्महत्याओं की दर अब प्रतिदिन 3 हो गई है - और बढ़ रही है। ये मौतें किसी प्राकृतिक विपदा का परिणाम नहीं हैं बल्कि हृदयहीन सिनीसिज़्म के साथ थोपी गई नीतियों का परिणाम हैं। इनके मूल में कई कारण हैं जिनमें शामिल हैं ऋण की अनुपलब्धता से जुड़ी कर्ज़ की समस्या, खेती के लिए प्रयुक्त वस्तुओं की बढ़ती कीमतें, कृषि उत्पादों के घटते मूल्य, और उम्मीद का पूरी तरह से अंत। विश्वास का ऐसा अंत तथा मौतों में वृद्धि पिछले अक्टूबर के बाद से सर्वाधिक रही है। यह उस समय है जब एक ऐसी सरकार सत्ता में आई जिसने कपास का मूल्य 2,700 रु. प्रति क्विंटल करने का वादा किया था पर ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर दीं कि मूल्य गिर कर 1,700 रु. हो गया। एक हजार रुपये कम।

यह देखते हुए कि 413 आत्महत्याओं में से 322 सिर्फ 1 नवंबर से अब तक के दौरान हुई हैं, आप सोचेंगे कि यह खबर बनने लायक बात है। जब प्रतिमाह की सर्वाधिक संख्या 77 अकेले मार्च में हुई हो, तब भी आप यही सोचेंगे। लेकिन आप गलत होंगे। भारतीय ग्रामीण क्षेत्र का ग्रेट डिप्रेशन खबर बनने लायक बात नहीं है।

लेकिन सेन्सेक्स और फैशन वीक खबर बनने लायक हैं। "सेन्सेक्स और फैशन वीक को खबर बनाने में," एक नाराज़ पाठक ने मुझे लिखा "कुछ भी गलत नहीं है।" बात तो ठीक है। लेकिन ऐसा करते समय हमारे अनुपात बोध में कुछ भयंकर गड़बड़ है। सेन्सेक्स की हर धड़कन और फड़फड़ाहट मुख्य पृष्ठ पर आने लायक समझी जाती है। चाहे केवल दो प्रतिशत से भी कम भारतीय गृहस्थियों का स्टॉक ऐक्सचेंज में किसी भी तरह का कोई निवेश है। इस सप्ताह का चढ़ाव आज तक का सर्वाधिक ही नहीं है। यह मुख्य पृष्ठ की प्रमुख रिपोर्ट भी है। ऐसा इसलिए कि "सेन्सेक्स ने डाव को संख्याओं के खेल में हरा दिया है।"

एक बड़े दैनिक में शीर्षक के नीचे लिखा था: "दलाल स्ट्रीट के 11,183 ने वॉल स्ट्रीट को ढक लिया।" तब से यह अंक बढ़ कर 11,300 पर पहुँच गया है।

टेलीविज़न पर अव्यापारिक चैनलों के भी दाएँ कोने पर एक सूचक लगा रहता है। दर्शकों को तब भी बड़े अवसरों के बारे में सावधान करता हुआ जब वे ताज़ातरीन बम विस्फोट में हुई मौतों की संख्या देख रहे होते हैं। एक बार तो राष्ट्रपति के. आर. नारायण के लिए शोक मनाना और निप्टी तथा सेन्सेक्स की खुशियाँ अगल-बगल चल रहे थे। ऐसी विडंबना पर ध्यान तो जाता है पर यह बनी फिर भी रहती है।

फ़ैशन वीक के प्रेमियों के लिए एक बड़ी ख़बर यह है कि इस वर्ष ऐसे दो वीक मनाए जाएंगे। सुंदर लोगों के दिल में एक दरार पड़ गई है। जिसका मतलब है कि हमारे लिए अब 500 या उससे भी ज़्यादा पत्रकार इन दो आयोजनों का अलग-अलग ब्य़ोरा लेने जाएंगे। ऐसा उसी देश में हो रहा है जहाँ फ़ैशन उद्योग के अपने ही एक अध्ययन के अनुसार भारतीय डिज़ाइनर बाज़ार कुल कपड़ा बाज़ार का केवल 0.2 प्रतिशत है। जहाँ ऐसे आयोजनों में हर साल पत्रकारों की संख्या खरीदारों से अधिक होती है - अक्सर तीन गुना।

इस की तुलना करें पत्रकारों की उस नगण्य संख्या से जिसको विदर्भ की भयंकर विपत्ति के दौरान वहाँ का ब्य़ोरा लेने के लिए भेजा गया। एल. एफ. डब्ल्यू. में एक तरफ पत्रकार 'एक्सक्लूसिव' पाने के लिए धक्का-मुक्की करते हैं और दूसरी तरफ टी. वी. वालों में कैमरे के लिए सबसे बढ़िया जगह बनाने के लिए होड़ लगी रहती है। उधर विदर्भ में मौजूद सर्वश्रेष्ठ रिपोर्टर अपना मानसिक संतुलन बनाए रखने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। यह जानते हुए भी कि उनका सामना ऐसे दैनिकों से है जो उनकी अधिकांश रिपोर्टों को दबा देते हैं, या उन चैनलों से जो ऐसी रिपोर्टों को देख कर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, वे अपने काम में लगे हुए हैं। अपनी पूरी जान लगा कर देश का ध्यान जो कुछ हो रहा है उसकी तरफ खींचने के लिए। देश की सामूहिक अंतरात्मा को छू पाने के लिए। दरिद्रता से उनका इतना तीखा सामना हुआ है कि वे अगली गृहस्थी का ब्य़ोरा लेने के लिए खुद को घसीट कर ले जाते हैं जबकि उनका मन कहता है कि सब छोड़ दिया जाए। उनमें से हर एक जानता है कि किसानों की आत्महत्याएँ तो केवल झलक भर हैं। एक बहुत बड़ी विपत्ति का लक्षण।

वैसे जो अखबार उनकी रिपोर्टों को नापसंद करते हैं वे गरीबों के लिए जगह ढूँढ लेते हैं। जैसे कि इस विज्ञापन में, जो उनके लिए वितृष्णा की नई हदों को छूता है। दो गरीब औरतें, शायद भूमिहीन मज़दूर, गपशप कर रही हैं: "तुम्हारी त्वचा का रंग तो बड़ा ही डिज़ाइनर टैन है।" "हाँ," दूसरी जवाब देती है। "मेरी त्वचा को मौँटे कार्लो की धूप बहुत सूट करती है।" आगे का विज्ञापन उन पर कटाक्ष करता है। "आप मानेंगे," उसमें लिखा है, "कि इस बात की संभावना कि ऊपर दिखाई गई महिलाएँ फ्रेंच रिवियरा के सितारों से कंधा मिला पाएंगी, कहना चाहिए, बहुत अधिक नहीं है।" एक टिप्पणी तो खैर उसमें जुड़ी है। कि "हम किसी का अपमान नहीं करना चाहते..." लेकिन "यह बेचने वालों को सिर्फ़ याद दिलाने के लिए है कि अधिक संभावना वाले ग्राहकों पर ध्यान केंद्रित करने का फ़ायदा तो होता है।" यह विज्ञापन है एक बड़े समाचार पत्र समूह के "ब्रांड ईक्विटी" सप्लीमेंट का।

इसी घटनापूर्ण हफ़्ते में मुम्बई में करीब 5,000 झुगियाँ तोड़ डाली गईं। लेकिन इस तरफ कम ही लोगों का ध्यान गया। इनके निवासी भी फ्रेंच रिवियरा तक नहीं पहुँच पाएंगे। जो मीडिया के केंद्र में हैं वे शायद पहुँच भी जाएँ। मुम्बई में पेडर रोड पर जो पुल बनने वाला है, जिसे उस महानगर के कुछ अतिसंपन्न अपने हितों के विरुद्ध मान रहे हैं, को ढेर सारा अखबारी कागज़ और प्रसारण समय दिया गया है। जिनके घर ढहा दिए गए उनका एक भी शब्द सुनाई या दिखाई नहीं पड़ा। इसी दौरान अधिकाधिक लोग गाँवों से भाग कर शहरी भारत की तरफ आ रहे हैं। यानी भविष्य में घर ढहाए जाने के नए उम्मीदवार। गाँवों में हम जिनके जीवन को ढहाते हैं, शहरों में उनके घरों को।

अभिजात वर्ग की आत्मतुष्टि उस सरकार में भी दिखती है जिसे यह वर्ग चुनता नहीं है पर नियंत्रित करता है। जब राष्ट्रीय कृषक आयोग पिछले अक्टूबर में विदर्भ गया तो उसने एक गंभीर रिपोर्ट और बहुत महत्वपूर्ण सुझाव पेश किए। इनमें से कई सुझाव किसानों और उनके संगठनों की मांगों का आधार बन गए हैं। जनवरी में नाशिक में अपने सम्मेलन में अखिल

भारतीय किसान सभा (2 करोड़ सदस्यों वाली एक संस्था) ने राष्ट्रीय कृषक आयोग की रिपोर्ट को तुरंत लागू करने की माँग की।

ऐसा करने के बजाय केंद्र व राज्य दोनों की सरकारें एक के बाद एक 'आयोग' भेज रही हैं। उस चीज़ का अध्ययन करने के लिए जो कि पहले ही सर्वज्ञात है और जिसके बारे में पर्याप्त दस्तावेज़ भी उपलब्ध हैं। एक तरह का विपत्ति पर्यटन बन गया है। इससे सिर्फ यह होता है कि जो करना चाहिए उसे न करने की गलतियों में जो नहीं करना चाहिए उसकी भी गलतियाँ जुड़ जाती हैं।

निगमों की तरफ पक्षपात

क्षति केवल विदर्भ में ही नहीं हो रही है बल्कि पूरे देश में हो रही है। भारतीय राज्य अपने किसानों के साथ ऐसा क्यों कर रहा है? देखा जाए तो कृषि क्या भारत का सबसे बड़ा निजी उद्योग नहीं है? क्योंकि केवल निजी होना ही काफी नहीं है। निर्दयता के साथ, हर नीति, हर बजट हमें कृषि के और अधिक निगमीकरण की तरफ ले जा रहा है। विदर्भ में मज़बूरी में की गई कपास की बिक्री का सबसे अधिक फ़ायदा बड़ी कंपनियों को हुआ है। छोटे निजी मालिक जिन्हें किसान कहा जाता है, की बड़े निगमी फ़ायदे के लिए बलि दी जा सकती है। इसका सबसे बड़ा स्वीकार आंध्र प्रदेश में मैकिन्सी द्वारा लिखे गए चंद्रबाबू नायडू के विज़न 2020 में मिला। इसमें भूमि से लाखों लोगों को बाहर निकाले जाने को एक लक्ष्य के रूप में रखा गया है। केंद्र व कई राज्यों में एक के बाद एक सरकारों ने इस विज़न को बहुत जोर-शोर से अपनाया है। कुछ मामलों में वर्तमान संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यूनाइटेड प्रोग्रेसिव अलायंस) ने वहीं से काम चालू रखा है जहाँ श्री नायडू ने छोड़ा था।

जिनको अपनी भूमि से बाहर फेंका जा रहा है वे कहाँ जा रहे हैं? शहरों में जहाँ मिलें बंद हो चुकी हैं। जहाँ फैक्टरियाँ बंद हो चुकी हैं और बहुत ही कम रोजगार उपलब्ध है। यह महान भारतीय चमत्कार रोजगार बढ़ाए बिना वृद्धि करने पर आधारित है। हम अपने इतिहास का सबसे बड़ा मानवीय विस्थापन देख रहे हैं और उसे स्वीकार भी नहीं कर रहे हैं। कोई भी काम पाने की हताशा राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कार्यक्रम के एकदम शुरु में ही साफ दिख रही है। इस कार्यक्रम के चालू होते ही आंध्र प्रदेश में 27 लाख उम्मीदवार सामने आ गए। और महाराष्ट्र के 12 ज़िलों में लगभग 10 लाख। ध्यान रखें कि इसके अंतर्गत दी जाने वाली 60 रु. की मज़दूरी कई राज्यों के न्यूनतम से भी कम है। यह भी जान लें कि उम्मीदवारों की लाइन में लगने वालों में से कई किसान ऐसे हैं जिनके पास ज़मीन है। कुछ के पास तो छः एकड़ या उससे भी अधिक भूमि है। आंध्र प्रदेश के वारंगल ज़िले में 10 वर्ष पूर्व एक ऐसा किसान जिसके पास आठ एकड़ धान की खेती लायक ज़मीन हो, कुछ हैसियत वाला व्यक्ति माना जाता था। आज वही, अपने पाँच व्यक्तियों के परिवार के साथ, गरीबी रेखा के नीचे होगा। (अगर भूमिपतियों का ऐसा हाल है तो कल्पना कीजिए कि भूमिहीन मज़दूरों का क्या हाल होगा।)

अगर विदर्भ में राज्य सरकार की भूमिका वितृष्णा पैदा करने वाली है तो केंद्र की डरावनी है। वो केवल दुख ज़ाहिर करने के लिए तैयार है। जैसा कि अखिल भारतीय किसान सभा की रिपोर्ट से ज़ाहिर है, सैकड़ों ऐसी ज़िंदगियाँ बचाने के लिए के बहुत कुछ किया जा सकता है जिन्हें अन्यथा बचाया नहीं जा सकेगा। लेकिन सरकार इस रास्ते से बच रही है।

कृषि का उसका सपना निगमों के लिए है, समुदायों के लिए नहीं। और अभिजात मीडिया? एक विदर्भ सप्ताह क्यों नहीं? उन लोगों की ज़िंदगी और मौत के बारे में ब्यौरा देने के लिए जिनके द्वारा पैदा की गई कपास से वे टैक्सटाइल और फ़ैब्रीक बनते हैं जिनका ब्यौरा छापा जाता है। अगर फ़ैशन वीक में भेजे जाने वाले पत्रकारों में से एक चौथाई भी विदर्भ का ब्यौरा लेने के लिए आवंटित किए जाएँ तो उनके पास कहीं ज़्यादा कहानियाँ होंगी बताने के लिए।

---

अनुवादक: अनिल एकलव्य

अनुवाद तारीख: 13 दिसंबर, 2006

**Original article**